REVIEW OF RESEARCH
ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF)
VOLUME - 7 | ISSUE - 4 | JANUARY - 2018

समकालीन हिन्दी कहानी और नारी उपेक्षा

रविन्द्र कुमार
एम.फिल. शोधार्थी , हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.

प्रस्तावना :

उपेक्षा एक मनौवैज्ञानिक उद्भावना है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से है, क्योंकि सामाजिक प्राणी होने के कारण वह परिस्थितियों के वशीभूत होकर सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों से भिन्न प्रकार का व्यवहार करता है। किन्हीं कारणों से वह दूसरे व्यक्ति की उपेक्षा करने लगता है। उसे नकारता है। अपना जैसा नहीं समझता, अपने स कमतर, छोटा, हीन समझता है। उसे अपनी अहमता के कारण ऐसा लगता है कि अमुक व्यक्ति के पास वह जा सकती है। 'उपेक्षा' शब्द अपने आप में जितना सरल प्रतीत होता है उतना ही व्यवहार जगत में आकर जटिल हो जाता है क्योंकि जो इस भाव के भोक्ता होते हैं उनका जीवन उपेक्षा के कारण वह नहीं हो पाता जो होना चाहिए।

उपेक्षा शब्द का शाब्दिक अर्थ है– 'अवहेलना करना' अथवा नकार देना। उपेक्षा शब्द अपेक्षा का विपरीतार्थक है। जहाँ एक ओर अपेक्षा करने से तात्पर्य किसी दूसरे व्यक्ति से एक निश्चित वस्तु अथवा व्यवहार की आकांक्षा करना। वही उपेक्षा से तात्पर्य किसी को महत्त्व न देना और तिरस्कार भरी दृष्टि से देखना है। उपेक्षा शब्द अंग्रेजी के 'Ignore' शब्द का समानार्थी है। इसी शब्द की अर्थ ध्वनियों को अपने भीतर समाहित किए हुए अल्प शुद्ध भी हैं जैसे–Neglect, Negligence इत्यादि।

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक स्त्री निरंतर उपेक्षा एवं शोषण का शिकार होती रही है और निरंतर विकास के साथ भी उसकी स्थिति में अपेक्षित परिवर्तन नहीं हुआ है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण सामाजिक तन्त्र में यहां तक कि आत्मिक निजी जीवन में भी एक पुरानी बुराई का स्थान नई बुराई ने ले लिया है। पितृसतात्मक सामंती पारिवारिक ढांचे को स्वेच्छा चारिता, कूपमण्डू रागात्मक, स्त्रियों के पार्थक्य आदि का स्थान आज बाजार उपनिवेशवाद के दौर में पूँजीवादी पारिवारिक ढाँचे की निरंकुशता, नग्न यौन उत्पीड़न तथा उपभोक्ता संस्कृति ने लिया है। यह स्त्री शोषण के नये व सूक्ष्मरूप है। मनुस्मृति में भी स्त्री को सम्पत्ति कहा गया है और मनु के अनुसार उसे खरीदा बेचा जा सकता है और युद्धों में लूटा जा सकता है। बलात्कार तो हिन्दू समाज में सदैव से ही मान्य रहा है। दस वर्ष की आयु से पहले–पहले लड़की का विवाह कर देने का विधान शास्त्रों में था और उसके पश्चात् कन्या का दण्ड बताया जाता है। आधुनिक काल में भी स्त्री उपेक्षा का सिलसिला थमा नहीं जैसे–जैसे समाज विकसित होता चला गया स्त्री शोषण के अनेक नए–नए रूप सामने आते चले गए।

यह बात निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि मानव इतिहास के आदिमकाल में समाज मातृसतात्मक था। इतिहास के उस समय को जिसे आदिम साम्यवाद भी कहा गया है। किसी प्रकार का कोई आधिपत्य एवं शोषण में नहीं था, न तो स्त्रियों द्वारा पुरुषों पर और न ही पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर। प्रत्येक प्रकार का शोषण समाज को वर्गीय समाज की ही देन है। सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल इतिहास के वैदिककाल में ही स्त्री की स्थिति कुछ ठीक थी। उसके बाद समाज में उसकी स्थिति में निरंतर गिरावट आती चली गई। डॉ. ए.आर. देसाई के अनुसार, ''वैदिक युग के आरम्भ के काल को छोड़कर सदैव नारी पुरुष की अधीनता में रहती आई है। समाज में पुरुष को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त थे। उनकी कुछ ऐसी स्वतन्त्रताएं थीं जिनमें स्त्रियां वंचित थी।''[i] स्त्री और पुरुष के निजी और सामाजिक आचरण की अच्छाई–बुराई के भिन्न–भिन्न मानदण्ड थे। भारतीय समाज के वैदिक युग में स्त्रियों को जो समान और अधिकार प्राप्त था वह बाद में क्रमशः समाप्त होता चला गया। यहाँ तक की सामंती युग में पुरुष समाज में स्त्रियों को लगभग उनके सारे अधिकारों से वंचित कर दिया गया। मध्ययुग में स्त्री को अधिकतर भोग–विलास की वस्तु के रूप में देखा जाने लगा। मध्ययुगीन काव्य में नायिका का नख–शिख वर्णन तथा नायिकाओं का एक वस्तु के रूप में चित्रण इस तथ्य को सशक्त उदाहरण है। मुसलमानों के भारत आक्रमण के पश्चात् तो स्त्रियों की दशा और भी दयनीय हो गई क्योंकि उस समय स्त्रियों का अपहरण, उनके साथ बलात्कार की घटनाएं सर्वाधिक हुई और इसी

के चलते भारतीय समाज में उन पर और भी प्रतिबन्ध लगा दिए गएँ बाल विवाह, सतीप्रथा, पर्दाप्रथा जैसी कुप्रथाओं को इसी समय विशेष बढ़ावा मिला।

स्त्री की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि वह अपनी भूमि कभी स्वयं तय नहों कर पाई, न परम्परा में, न आधुनिकता में। उसकी भूमिका सदैव ही अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर शक्तिशाली पुरुष या व्यवस्था तय करती है। ''ऊपर–ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि परम्परा में स्त्रियों ने अपनी सुरक्षा का मूल्य अपनी स्वतन्त्रता से चुकाया है और आधनिक स्त्री अपनी स्वतन्त्रता का मूल्य अपनी सुरक्षा से चुका रही है, परन्तु सत्य इतना सपाट और इकहरा नहीं है। परम्परा में भी स्त्री की छवि और भूमिका उलझी हुई है और आधुनिकता में भी। दोनों में एक बड़ा अंतर अवश्य है कि परम्परा में पीड़ा है, मन का न कर पाने को।''[ii]

स्वतन्त्र हो पाने की। आधुनिकता में वह पीड़ा नहीं है भ्रम है। अपने मन का कर पाने की। परन्तु यह केवल भ्रम ही है। आज भी भ्रूण हत्या, दहेज प्रथा, बाल–विवाह, बलात्कार, सतीप्रथा के अवशेष, जैसे नारी शोषण के अनेकानेक घृणित रूप समाज में विद्यमान है।

समाज में अधिकतर लोगों में यह धारणा व्याप्त है कि स्त्रियां प्राकृतिक रूप से ही पुरुषों से भिन्न है। यह माना जा रहा है कि स्त्री अपनी शारीरिक संघटना के कारण बहुत सारे कार्य नहीं कर सकती जो पुरुष कर सकता है और शारीरिक रूप से कमजोर होने के कारण उसे पुरुष व्यवस्था अथवा संस्था के सरंक्षण की आवश्यकता निरंतर पड़ती है। इसलिए धारणा के आधार पर ही पुरुष व्यवस्था अथवा संस्थाएं उसका निरंतर शोषण अथवा दमन करती रहती हैं।

सिमोन द बुआ के अनुसार, ''स्त्री पैदा नहीं होती बना दी जाती है।''[iii] यह वस्तुतः अनुकूल का मामला है। यह सही है कि शारीरिक रूप से एक स्त्री और पुरुष में अंतर प्रकृति प्रदत है और यह रहेगा, परन्तु मानसिक रूप से स्त्री को जिन गुणों विशेष के साथ जोड़ने का प्रयत्न निरंतर किया जाता है वह प्राकृतिक नहीं होते उनका सम्बन्ध उनके पालन–पोषण के दौरान कर दिए जाने वाले अनुकूल से है। स्त्री शिक्षा द्वारा एक और स्त्री को ज्ञान का प्रकाश मिलना आरम्भ हुआ तो दूसरी और घर की देहरी के बाहर कदम रखते ही स्त्री शोषण के आयाम विस्तृत हुए। पहले वह घर के सामंती वातावरण से संघर्षरत थी। अब उसे घर तथा बाहर दोनों ही क्षेत्रों में सामंतवादी शक्तियों के दमन का शिकार होना पड़ा। पहले जो बलात्कार की घटनाएं घर के भीतर होती थीं उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि हुई, कामकाजी महिलाओं को घर तथा बाहर दोनों को साधने की प्रक्रिया में निरंतर तनाव का सामना करना पड़ा। स्त्री के लिए बाहरी क्षेत्र की प्रतियोगिताओं के जो मानदण्ड निर्धारित किए गए वे पुरुषों के लिए तय मानदण्डों से भिन्न हैं। नौकरी के संदर्भ में एक विशेष कठिनाई स्त्रियों के लिए यह भी है कि वे नौकरियां तो पा जाती हैं, परन्तु उच्च पदों पर पहुंचना उनके लिए सदैव कठिन रहता है। कारण ट्रांसफर या पमोशन की परीक्षाएं पास कर पाना नहीं होता अपितु स्वयं सीनियर या जूनियर अफसर किसी महिला अधिकारी के नीचे काम नहीं करना चाहते। ''चाहे तकनीकी दक्षता वाला क्षेत्र हो अथवा कार्यकुशल मजदूरों की आवश्यकता वाला कोई क्षेत्र तुलनात्मक रूप से स्त्रियों की संख्या वहां बहुत कम होती है। उपेक्षा का इससे बड़ा कारण क्या होगा।''[iv] आज स्त्री की जो स्वतन्त्रता आधुनिक समाज में प्राप्त है वह भी बाज़ार द्वारा नियंत्रित स्वतन्त्रता मात्र है। बाज़ार ही उस स्वतन्त्रता के मानदण्ड निर्धारित करता है। बाज़ार ने सौन्दर्य की एक समानांतर सत्ता स्थापित करके स्त्री को एक वस्तु में परिवर्तित कर दिया है। उसकी देह एक ब्रांड बन गई है जो उपभोक्ताओं को अपनी और आकर्षिक करती है। विज्ञापन जगत स्त्री का उत्तेजित करने वाले माध्यम के रूप में उपयोग करता है और स्वयं इस माध्यम का शिकार भी स्त्री ही है। नये सौन्दर्यशास्त्र का सारा आधार 'रूप' पर है इसलिए नख–शिख रूप वर्जन का नया रीतिकाल एक उद्योग की शक्ल में पैदा हो गया है। ''सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के आयोजन, विश्व सुंदरियों का चयन और फिर उन्हें ब्रांड प्रतिनिधि के रूप म प्रक्षेपित करने के प्रायोजित कार्यक्रमों के पीछे बाज़ार ही है। वस्तुतः यह स्त्री को ओर उछाला गया छद्मशक्ति का अंश है और साथ ही साथ यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भारत जैसे विकासशील देशों में सफलतापूर्वक पाँव जमाने का एक सुगम रास्ता भी है।''[v]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्त्री उपेक्षा के आयामों में निरंतर विस्तार हुआ है। स्त्री की उपेक्षा कम होने के स्थान पर बढ़ती जा रही है। यह बात और है कि अब स्त्री मुक्ति के प्रश्न को भी समानांतर रूप से उठाया जाने लगा है परन्तु यह अभी ठोस रूप धारण नहीं कर सकता। यह एक नारे या बैनर पर लिखे स्लोगनों से ऊपर उठकर अवधारणा के स्तर पर नहीं आ सकता है। यह स्वयें म कई भ्रम उत्पन्न करता है, इसलिए स्त्री उपेक्षा के सूक्ष्म रूप और भी अधिक उभर कर सामने आ रहे हैं।

भारतीय समाज में विधवाओं की स्थिति आरम्भ से ही दयनीय रही है, ज्यों ही एक स्त्री विधवा होती है समाज उसे अधिकारों से वंचित कर निरीह सा जीवन जीने के लिए बाध्य कर देता है। हिन्दी साहित्य में हिन्दी के प्रमुख कहानीकारों ने जिनमें रामदरश मिश्र की कहानी 'एक औरत की जिंदगी', रमेश उपाध्याय की 'माटीमिली', चित्रा मुदगल की 'लगड़बग्घा', मैत्रेयी पुष्पा की 'पगला गई है भागवंती', अरूण भारती की 'गटर' आदि कहानियाँ पारिवारिक और सामाजिक जीवन की मुख्य धारा में एक विधवा स्त्री के जीवन और उसकी समस्याओं को गम्भीरता से उठानी है। विधवा जीवन पर केन्द्रित कहानियों में से अधिकांश ऐसी कहानियाँ हैं जो निम्न वर्ग की स्त्रियों अथवा ग्रामीण समाज की स्त्रियों पर केन्द्रित हैं।

चित्रा मुद्गल की कहानो 'लकड़बग्घा' में भी पति के निधन के पश्चात् पछाहवाली के समस्त अधिकार और निर्णयों पर परिवार के लोग पाबंदी लगा देते हैं। वह अपने सम्पूर्ण जीवन में एक छोटा सा निर्णय लेती है कि शिक्षा के अभाव के कारण जो कठिनाइयाँ उसको उठानी पड़ी वह उसकी पुत्री को न उठानी पड़े। पढ़–लिखकर वह इस योग्य बन जाए की यदि कोई अप्रिय घटना उसके जीवन में घटे तो वह भी सम्मानपूर्वक स्वावलम्बी होकर जीवन व्यतीत कर सके परन्तु पूरा परिवार उसके निर्णय के विरुद्ध एकजुट हो जाता है। लंबरदार उस पर राइफल तानकर खड़ा हो जाता है।

''निकल बाहर... पछाहवाली। राइफल सीधी करते हुए लंबरदार दहाड़े...।''[vi]

इसी प्रकार रमेश उपाध्याय की कहानी 'माटीमिली' और अरुण भातरी की 'गटर' कहानियां भी एक स्त्री के प्रति समाज में अश्लील दृष्टि और शारीरिक रूप से शोषित करने की प्रवृत्ति को अभिव्यक्ति प्रदान करती है।

शैलेन्द्र सागर की कहानी 'गुलइची' में विधवा स्त्री पुलिस और प्रशासन के दमन चक्र का शिकार होती है।

''दरोगा कहीं अंदर द्रवित हुआ। उठकर पास चला आया और उसके सिर और पीठ पर हाथ फेरने लगा। तो हमारे ऊपर दोष क्यों लगाती हो। आखिर में दीवानी का मामला है न। फिर तू हमार पास आती रहेगी तो हमारी मदद होगी ही।''[vii]

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि पति द्वारा छोड़ी गई स्त्री या स्वयं अकेले रहने का निर्णय करने वाली स्त्री को समय समय पर समाज की उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है।

यह बात सत्य है कि पुरुषों एवं संस्थाओं द्वारा स्त्रियाँ उपेक्षित होती हैं परन्तु यह बात भी सर्वविदित है कि स्त्रियाँ स्त्रियों द्वारा शोषण का शिकार होती हैं जबकि उन्हें एक दूसरे का मित्र होना चाहिए। सिमोन के अनुसार, ''स्त्रियों में कठिनाई से सहभाव सच्ची मित्रता में बदलता हो प्रत्येक स्त्री अपनी सत्ता चाहती है विशेषकर यही स्थिति पारिवारिक जीवन की विषाक्त बना देती है।''[viii]

इसी प्रकार ममता कालिया की ही कहानी '25 साल की लड़की' की नायिका 25 साल की आयु तक अविवाहित रहने के कारण मिसेज शाह की निगाह में पतित स्त्री है जो उसके पति नाजायज सम्बन्ध रखती है। एक स्त्री का एक उम्र में विवाह न कर पाना भी उसके लिए अपराध बन जाता है और पुरुषों द्वारा तो उसका शोषण होता ही है स्त्रियाँ भी उसका शोषण करने से नहीं हिचकतीं।

प्रत्येक परिवार यह चाहता है कि उसका वंश आगे बढ़े और यह भी मानता है कि वंश को आगे बढ़ाने वाला। उसे मान–सम्मान पहुँचाने वाला केवल पुत्र ही हो सकता है इसलिए पुत्र की इच्छा प्रत्येक परिवार करता है। स्वयं एक स्त्री जो माँ बनने वाली है उसमें पुत्र को पाने की इच्छा प्रबल होती है क्योंकि पहली संतान यदि पुत्र हो तो परिवार में उसे गौरव प्राप्त होता है कि भ्रूण में ही उसका गला घोंट दिया जाता ह। मिथिलेश्वर की 'साक्षी' कहानी, मृदुला गर्ग की कहानी 'तीन किलो की छोरी', चन्द्रकांता की कहानी 'गंगा से गंगोत्री' आदि कहानियों में कन्या भ्रूणहत्या की समस्या को दिखाया गया है।

मानव स्वभाव से ही सौंदर्यप्रिय प्राणी है। वह अपने आसपास की प्रत्येक सुन्दर वस्तु को सराहना चाहता है परन्तु कुरूपता से भागता है क्योंकि कुरूपता उसे सहन नहीं है और यह कुरूपता यदि स्त्री की हो तो समाज का रवैया कुछ और अधिक कटु हो जाता है क्योंकि पुरुष का गौरव यदि बलशाली होता है तो स्त्री का गौरव उसकी सुंदरता से आंका जाता है। किसी स्त्री के भीतर भले ही कितने ही गुण क्यों न हों परन्तु फिर भी यदि वह सुंदर नही है तो उसके सारे गुण व्यर्थ हैं यदि ध्यान से देखा जाए तो सुंदरता कोई मूल्य नहीं किसी विशेष समय में किन्हीं विशेष शर्तों को पूरा करने की स्थिति है। मिथिलेश्वर की कहानी 'तिरिया जनम' को सुनयना को परिवार की उपेक्षा का लगातार शिकार होना पड़ता है, क्योंकि वह बांझ है। शादी के दस वर्ष बीत जाने के पश्चात् भी वह मां नहीं बन पाती उसके पश्चात् सास ऐलान कर देती है– ''बाँझ आयी है... अब इस पर आस लगाना ठीक नहीं अब बेटे की दूसरी शादी करनी होगी।''[ix]

एक घरेलू स्त्री परिवार के लिए उस नींव की तरह है जो पूरी परिवार रूपी इमारत को अपने धैर्य और सहनशीलता के बल पर खड़ा करती है। यदि पुरुष परिवार के लिए आय का स्त्रोत है तो वह भी परिवार को सुचारू रूप से चलाने और घर के छोटे से लेकर बड़े काम को करने में अपनी ऊर्जा तथा समय देती है। परन्तु उसकी इस ऊर्जा और समय का कोई मूल्य नहीं है क्योंकि समाज घरेलू श्रम को वह महत्त्व नहीं देता जो दूसरे श्रम को दिया जाता है। वह परिवार के लिए कितनी ही मेहनत, कितना ही श्रम क्यों न करे उसे सदैव उसके कर्त्तव्य के रूप में ही देखा जाताा ह।

कुसुम अंसल की 'स्पीड–ब्रेक्रर' नामक कहानी इसी सच को अभिव्यक्त करती है– ''कभी बच्चों के इम्तिहान, कभी नौकर के छुटी जाने की चिंताएँ, घर की चिंताएँ, घर छोड़ने नहीं देती। विवेक को अवसर मिल जाता है छुट्टी जाने का.... इस मोड़ पर आकर लगता है कि कोई विस्फोट हो और पुराना सन्नाटा। एकसार चलता जीवन गति बदलकर चले... तरू सच मन कहता कि कोई हो जो नए सिरे से याद दिला सके कि मैं जमी हुई बर्फ नहीं हूँ। मुझमें प्राण हैं, गति है।''[x]

नारी भले ही कामकाजी हो या गृहिणी दोनों को ही उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि स्त्री विभिन्न प्रकार से समाज में शोषित होती रही है। वह पितृसत्ता तथा व्यवस्था द्वारा बनाए गए नियमों के आधार पर ही अपना जीवन जीने को मजबूर होती रही। उसकी स्वयं की इच्छा व आकांक्षा का मूल्य न के बराबर रहा। वह एक व्यक्ति या एक मानव के रूप में अपने होने को परिभाषित करने का प्रचलन अवश्य करती रही उसकी शिक्षा व स्वावलम्बन के साथ स्थिती में कुछ सुधार भी हुआ परन्तु समाज ने उसे सदैव सम्बन्धों अथवा दायरों के बंधन में बांधे रखा। धीरे–धीरे समाज में परिवर्तन हुआ परन्तु उस परिवर्तन में भो नारी उपेक्षा के अनेक सूक्ष्म रूप छिपे हुए थे। उपेक्षा का स्वरूप बदला, परन्तु वह पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हुई।

संदर्भ–

i भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए०आर० देसाई, मैकलिन इंडिया दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ० 218

ii समकालीन कहानी और उपेक्षित समाज, डॉ० श्रीमती प्रेम सिंह, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ० 109

iii वही, पृ० 110

iv वही, पृ० 110
v वही, पृ. 112
vi जगदम्बा बाबू, गाँव आ रहे हैं, चित्रा मुद्गल, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, 1992, पृ० 101
vii गुलइची, शलैन्द्र सागर, वर्तमान साहित्य, मई 1991, पृ० 71
viii वही, पृ. 73
ix प्रतिनिधि कहानियाँ, मिथिलेश्वर, पृ० 76
x इक्कीस कहानियाँ, कुसुम अंसल, 1992, पृ० 8

रविन्द्र कुमार
एम.फिल. शोधार्थी , हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.